ॐ

ईशावास्योपनिषद्

इस जगती में जो जगत् है वह ईश द्वारा बसा हुआ है। इसलिये त्याग-पूर्वक भोग करो। किसी दूसरे के धन की आकांक्षा मत करो ॥१॥

('जगती' का अर्थ है 'गतिवाली', 'जगत्' का अर्थ है 'गतिमान्'। संसार का सभी-कुछ गतिमान् है। सूर्य, पृथिवी, चन्द्र, तारे में गति है, इनके एक-एक अणु में गति है। तो क्या गति यूं ही हो रही है? नहीं, इस गति का कोई देने वाला है, कोई 'ईश' है, कोई स्वामी है। वह स्वामी कहीं अलग बैठा गति नहीं दे रहा, वह गति करने वाले एक-एक अणु में बसा बैठा है। जब वह एक-एक अणु में बसा हुआ है, और 'ईश'——स्वामी—— की हैसियत से बसा हुआ है, तब तो यह सब उसी का है, हमारा क्या है? मनुष्य अगर यह धारणा कर ले कि विश्व का स्वामी वही है, तो संसार का उपभोग वह किस बुद्धि से करेगा? वह यही तो समझेगा कि मैं उसका दिया खाता हूं, उसका दिया पीता हूं, उसका दिया काम में लाता हूं। वह संसार के पदार्थों

ॐ ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥१॥

ओम्—ईश्वर (यह परमेश्वर का निज नाम है और प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ करते हुए इस नाम से ही भगवान् को आर्ष-साहित्य में मंगलाचरण के रूप में स्मरण किया जाता है।); **ईशा**—ईश्वर से; **वास्यम्**—बसने या बसाने योग्य, बसा हुआ; **इदम्**—यह; **सर्वम्**—सब; **यत्**—जो; **किंच**—कुछ; **जगत्याम्**—गतिशील भगवान् की रचना अर्थात् कार्यरूपा प्रकृति में; **जगत्**—गतिमान्; **तेन**—उससे, उसने, उस कारण से; **त्यक्तेन**—दिये हुए से, त्यागभाव रखते हुए; **भुञ्जीथाः**—भोग करो; **मा**—मत; **गृधः**—लालसा करो, लालच में पड़ो; **कस्यस्वित्**—किसी के; **धनम्**—धन को; अथवा **धनम् कस्यस्विद्?**—धन किसका है? ॥ १ ॥

का भोग करेगा, परन्तु यह समझ कर कि यह सब उसका है, मेरा नहीं; वह भोग करेगा परन्तु त्याग-बुद्धि से; वह काम करेगा, परन्तु निःसंग-भाव से। संसार की सब वस्तुएं उसकी हैं, अतः उसकी वस्तु को अपना समझना तो चोरी के समान है। जो अपने पास है, जब उसे भी अपना समझना चोरी है, तो जो दूसरे के पास है, उसे अपनाने का प्रयत्न करना तो उसकी दृष्टि में दोहरी चोरी है। जो यह समझ लेता है कि ससार गतिमान् है, गति कभी गति देने वाले के बिना आ नहीं सकती, गति अणु-अणु के भीतर है अतः गति देने वाला भी अणु-अणु में बसा हुआ है, वही इस सबका स्वामी है, फिर वह संसार में निर्लेप, निःसंग, त्यागपूर्वक भोग के अतिरिक्त किसी दूसरे दृष्टिकोण को अपने सम्मुख रख ही नहीं सकता।)

सब उसी का है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि सब काम छोड़-कर हाथ पर हाथ धरकर बैठा जाय। मनुष्य कर्म करे परन्तु निष्काम कर्म करे, और कर्म करते हुए ही इस संसार में सौ वर्ष जीने की इच्छा करे। इस प्रकार मनुष्य में कर्म का लेप नहीं होता। इसके बिना कोई रास्ता नहीं ॥२॥

(कर्म करेंगे तो कर्म का लेप अवश्य होगा। उपनिषत्कार का कहना है कि जीवन का ऐसा भी मार्ग है कि हम कर्म भी करें और कर्म का लेप भी न हो। कर्म के लेप से ही तो सुख-दुःख होते हैं। वह मार्ग क्या है? वह मार्ग यह है कि हम कर्म तो करें परन्तु

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥२॥

कुर्वन्—करता हुआ; **एव**—ही; **इह**—यहाँ, इस संसार में; **कर्माणि**—कर्म, कर्मों को; **जिजीविषेत्**—जीने की इच्छा करे, जीना चाहे; **शतम्**—सौ; **समाः**—वर्षों तक; अर्थात् (**शतं समाः**—सौ वर्ष तक, पूरी आयु भर); **एवम्**—इस प्रकार; **त्वयि**—तुझमें; **न**—नहीं; **अन्यथा**—इससे भिन्न; अन्य प्रकार से; **इतः**—यहाँ से, इससे; **अस्ति**—है; **न**—नहीं; **कर्म**—किया कर्म; **लिप्यते**—लेप होता है, आसक्ति पैदा करता है; **नरे**—(नर अर्थात् **न रमण**—न आसक्त होने वाले) मनुष्य में ॥ २ ॥

निःसंगभाव से, निष्कामभाव से करें। परन्तु क्या निष्कामभाव सम्भव है? निष्कामभाव को सम्भव बनाने के लिए ही उपनिषत्कार कहते हैं कि तुम्हारा तो कुछ है ही नहीं––'ईशा वास्यमिदं सर्वम्'––सब उसी का है। जब सब उसी का है, तुम्हारा कुछ नहीं, तब लिप्त होना, सकामता कैसी? यहाँ 'नर'-शब्द का प्रयोग ध्यान देने योग्य है। 'नर'-शब्द 'न' और 'र' से बना है, जिसका अर्थ है 'न रमण करने वाला'––'नर' वही है जो रमा न रहे। निष्काम-भावना तभी आ सकती है जब रमण करने की भावना न रहे।)

जो मनुष्य आत्मा का हनन करते हैं वे मरकर गहरे अन्धकार से आवृत असुर्य लोकों में जाते हैं (बृहदा० ४-४-११) ॥३॥

(इस उपनिषद् में कर्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। कर्म कैसा? आत्मा के जीवन का या आत्मा के मरण का? आत्मा के विकास के मार्ग पर चलना आत्मा का जीवन' है, आत्मा के ह्रास के मार्ग पर चलना 'आत्मा का हनन' है। जब-जब मनुष्य आत्म-ह्रास के मार्ग पर चलता है तब-तब ही दिन में अनेक बार आत्मा का हनन करता है। आत्मा तो नित्य है, परन्तु हिंसा-असत्य-स्तेय-अब्रह्मचर्य-परिग्रह ये आत्मा का हनन करने वाले हैं। आत्म-जीवन के मार्ग पर चलने से आत्मा में प्रकाश का, उत्साह का, आत्म-स्फुरण का संचार होता है; आत्म-हनन के मार्ग पर चलने से आत्मा में अन्धकार का, निरुत्साह का, आत्म-हीनता का संचार होता है। भोग की दृष्टि आत्मा के हनन की

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
ताँ्स्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥३॥

असुर्याः—असुर्य (आसुर भाव से युक्त); **नाम**—नाम वाले; **ते**—वे; **लोकाः**—लोक, स्थान, लोग; **अन्धेन**—घने; **तमसा**—अन्धकार से; **आवृताः**—आच्छादित, घिरे हुए; **तान्**—उनको; **ते**—वे; **प्रेत्य**—मरकर; **अभिगच्छन्ति**—जाते हैं, प्राप्त होते हैं; **ये**—जो; **के**—कई, कोई; **च**—और; **आत्म-हनः**—आत्मा (अपने-आप) का हनन करने वाले, आत्मा का ह्रास करने वाले; **जनाः**—मनुष्य ॥ ३ ॥

दृष्टि है; त्याग-पूर्वक भोग, निःसंगता, निष्कामता से कर्म करने की दृष्टि आत्मा के जीवन की दृष्टि है।)

वह परमात्मा कंपन तक नहीं करता परन्तु मन से भी अधिक वेगवान् है; इन्द्रियां उसे प्राप्त नहीं कर सकतीं परन्तु वह इन्द्रियों से भी पूर्व वर्तमान है; वह ठहरा हुआ ही अन्य दौड़ते हुओं को पीछे छोड़ देता है; उसी के कारण वायु, जो स्वयं हल्की है, अपने से भारी जल को उठा लेती है ।।४।।

वह चलता है, वह नहीं चलता; वह दूर है, वह निकट भी है; वह इस सबके अन्तर में है; वही इस सबके बाहर से वर्तमान है ।।५।।

(इस उपनिषद् के प्रारम्भ में कहा कि वही संसार के कण-कण में बसा हुआ है। अगर वह कण-कण में बसा है, और संसार का कण-कण गतिमान् है तो उसकी गति कैसी है ? उसकी गति के विषय में उपनिषत्कार कहते हैं : कहने को तो वह हिलता तक नहीं परन्तु मन की गति से भी वह तीव्र गति वाला है, इन्द्रियां उस तक पहुंच नहीं पातीं कि वह पहले ही वहां पहुंचा होता है।

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ।।४।।

अनेजद्—कम्पन न करता हुआ, गति न करता हुआ; **एकम्**—एक, इकला; **मनसः**—मन से; **जवीयः**—अधिक वेगवाला; **न**—नहीं; **एनद्**—इसको; **देवाः**—दिव्य गुण युक्त, इन्द्रियां; **आप्नुवन्**—प्राप्त कर सकीं; **पूर्वम्**—पहले ही; **अर्षत्**—पहुंच चुका, मौजूद; **तद्**—वह; **धावतः**—दौड़ते हुए; **अन्यान्**—दूसरों को; **अत्येति** (अति+एति)—लांघ जाता है, पीछे छोड़ देता है; **तिष्ठत्**—ठहरा हुआ, स्थिर; **तस्मिन्**—उसमें; **अपः**—जलों को, कर्मों को; **मातरिश्वा**—वायु, जीवात्मा; **दधाति**—धारण करता है ।। ४ ।।

तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ।।५।।

तद्—वह; **एजति**—गति करता है; **तद्**—वह; **न**—नहीं; **एजति**—गति करता है; **तद्**—वह; **दूरे**—दूर में, **तद्**—वह; **उ**—निश्चय से; **अन्तिके**—पास में; **तद्**—वह; **अन्तः**—अन्दर; **अस्य**—इसके; **सर्वस्य**—सब के; **तद् उ**—वह ही; **सर्वस्य**—सबके; **अस्य**—इसके; **बाह्यतः**—बाहर की ओर ।।५।।

ऐसे विशाल-कर्मी के सामने अपने को पाकर ही मनुष्य अपनी कामनाओं का त्याग कर निष्काम हो सकता है।)

देखना 'वीक्षण' है, गहराई से देखना—एक-एक वस्तु में अन्दर से देखना कि वह इसमें है या नहीं 'अनु-वीक्षण' है। जो इस प्रकार के 'अनु-वीक्षण' से सब भूतों को आत्मा में ही देखता है, और आत्मा को सब भूतों में देखता है वह इस अनु-वीक्षण के कारण पाप नहीं करता। क्योंकि उसे प्रत्येक वस्तु की ओट से वह झांकता नजर आता है (हम पाप तभी करते हैं जब समझते हैं कि कोई नहीं देख रहा) ॥६॥

जिस जानने वाले के ज्ञान में सब भूत आत्मवत् हो गये, इसलिये आत्मवत् हो गये क्योंकि कण-कण में ईश ही बसा हुआ है, फिर वहां भूतों के अनेकत्व में आत्मा के एकत्व का अनु-वीक्षण करने वाले के लिए मोह कैसा, और शोक कैसा? ॥७॥

('वीक्षण'—साधारण देखने—से संसार में 'अनेकता' दीखती है, 'अनु-वीक्षण' से—एक-एक वस्तु के अन्दर जाकर देखने से—तो इस अनेकता में छिपी 'एकता' दीख पड़ती है। एकता

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥६॥

यः—जो; **तु**—तो; **सर्वाणि**—सब, सारे; **भूतानि**—पाँच जड़ भूतों को, चेतन प्राणियों को; **आत्मनि**—आत्मा में, अपने में; **एव**—ही; **अनुपश्यति**—गहराई से-बारीकी से देखता है; **सर्वभूतेषु**—सब भूतों या प्राणियों में; **च**—और; **आत्मानम्**—आत्मा को, अपने को; **ततः**—उससे, उस कारण से, उसके बाद; **न**—नहीं; **विजुगुप्सते**—पाप करता है, घृणा करता है, रक्षा की इच्छा करता है॥ ६॥

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥७॥

यस्मिन्—जिसमें; **सर्वाणि**—सारे; **भूतानि**—पंचभूत, प्राणी; **आत्मा**—आत्मा, स्वयं के समान; **एव**—ही; **अभूत्**—हुआ, हो गया; **विजानतः**—जानने वाले, ज्ञानी का; **तत्र**—वहां, उसमें; **कः**—क्या, कौन; **मोहः**—कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का ज्ञान न होना, मूर्च्छा, ममता; **कः**—क्या, कौन; **शोकः**—शोक, रंज, दुःख; **एकत्वम्**—एकता को; **अनुपश्यतः**—गहराई से देखने-जाननेवाले का॥७॥

भी किस में ? भौतिक-जगत् एक होकर प्रकृति में, और प्रकृति अपने निमित्त-कारण आत्मा में लीन हो जाती है। जो द्रष्टा सब भूतों को इस प्रकार आत्मा में मिटते हुए देख लेता है फिर वह न मोहावस्था में जाता है, न शोकावस्था में। संसार में फंसकर दो ही अवस्थाओं में जीव धंस सकता है। विषय-सुख मिलता रहता है, तो इसके मोह में फंसा रहता है, विषय-सुख छूट जाता है, तो शोकावस्था में सिर धुनने लगता है। अगर संसार में न फंसे, आत्म-भाव में बना रहे, तो संसार में कर्म करता हुआ भी फंसता नहीं। पंच-भूतों में लिप्त हो जाने वाली अनात्म-दृष्टि से मोह और शोक होते हैं, निर्लिप्तता तथा निष्कामता की आत्म-दृष्टि से ये दोनों छूट जाते हैं।)

वह सब जगह गया हुआ है। वह शुद्धता की चरम-सीमा है, शुक्र है। उसकी काया नहीं, काया नहीं तो व्रण कहां, नस-नाड़ी कहां ? भौतिक-दृष्टि से हम उसे 'शुद्ध' कहते हैं, मानसिक-दृष्टि से 'पाप-रहित' कहते हैं। वह 'कवि' है, यह भौतिक-संसार उसका काव्य है। वह 'मनीषी' है, मानसिक-संसार का भी वही स्वामी है। वह 'परिभू' है—सब जगह मौजूद है परन्तु साथ ही वह 'स्वयं-भू' (Uncaused Cause) है—'अपने-आप' है—कोई उसे पैदा नहीं करता। शाश्वत-काल से जो यह सृष्टि चल रही है, निरन्तर सृष्टि का प्रवाह चलता

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरँ शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥८॥

सः—वह परमात्मा; **पर्यगात्** (परि+अगात्)—सब ओर गया हुआ है, व्याप्त है; **शुक्रम्**—शुद्ध, दीप्त; **अकायम्**—शरीर से रहित; **अव्रणम्**—घावों से रहित; **अस्नाविरम्**—नाड़ी-संस्थान से रहित; **शुद्धम्**—सब मलों से रहित, पवित्र; **अपापविद्धम्**—पापों से रहित; **कविः**—क्रान्तदर्शी, भविष्यदर्शी, वेदरूप काव्य का निर्माता, ज्ञानी; **मनीषी**—मनन करनेवाला, ज्ञानी; **परिभूः**—सब ओर-सब जगह व्याप्त; **स्वयंभूः**—स्वयं सत्ता वाला (उसका कोई रचयिता नहीं); **याथातथ्यतः**—भली प्रकार, जैसा चाहिये वैसे ही; **अर्थान्**—पदार्थों को, सृष्टि को; **व्यदधात्** (वि+अदधात्)—करता है, रचता है, पैदा किया है; **शाश्वतीभ्यः**—निरन्तर, व्यवधान-शून्य, लगातार; **समाभ्यः**—वर्षों से, काल से॥८॥

चला जा रहा है, उसके लिए ठीक-ठीक पदार्थों की व्यवस्था, जिस समय जो-कुछ होना चाहिए यह सारा प्रबन्ध, वही कर रहा है ॥८॥

जो 'अविद्या', अर्थात् 'भौतिकवाद' (Materialism) की उपासना करते हैं वे गहन अन्धकार में जा पहुंचते हैं, और जो 'विद्या', अर्थात् 'अध्यात्मवाद' (Spiritualism) में रत रहने लगते हैं, भौतिक-जगत् की पर्वाह ही नहीं करते, वे उससे भी गहरे अन्धकार में जा पहुंचते हैं (बृहदा० ४-४-१०) ॥९॥

'विद्या' से अन्य ही कुछ, और 'अविद्या' से अन्य ही कुछ फल होता है। धीर लोगों ने विद्या और अविद्या की जो व्याख्या की है उससे ऐसा ही सुनते आये हैं ॥१०॥

'विद्या' तथा 'अविद्या'—इन दोनों को जो एक साथ जानते हैं, वे 'अविद्या', अर्थात् भौतिक-विज्ञान (Science) से 'मृत्यु' लाने वाले प्रवाहों को तर जाते हैं, और 'विद्या', अर्थात् अध्यात्म-ज्ञान से 'अमृत' को चखते हैं ॥११॥

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाँ रताः ॥९॥

अन्धं तमः—गहरे अन्धकार को; **प्रविशन्ति**—प्राप्त होते हैं; **ये**—जो; **अविद्याम्**—विद्या (अध्यात्म-ज्ञान) से भिन्न प्रकृतिं-वाद (भौतिक-वाद) को; **उपासते**—उपासना करते हैं, सेवन करते हैं; **ततः**—उससे; **भूयः**—अधिक; **इव**—मानो, तरह; **ते**—वे; **तमः**—अन्धकार को; **ये**—जो; **उ**—निश्चय से; **विद्यायाम्**—(केवल) अध्यात्म-ज्ञान में; **रताः**—लगे हुए, आसक्त हैं ॥ ९ ॥

अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुरविद्यया।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१०॥

अन्यद्—दूसरा; **एव**—ही; **आहुः**—कहते हैं; **विद्यया**—विद्या से, अध्यात्म-ज्ञान से; **अन्यद्**—दूसरा; **आहुः**—बताते हैं; **अविद्यया**—अविद्या से, भौतिक-वाद से; **इति**—यह, ऐसा; **शुश्रुम**—(हमने) सुना है; **धीराणाम्**—बुद्धिमान्–ज्ञानी मनुष्यों की (से); **ये**—जो, जिन्होंने; **नः**—हमें, हमको, हमारा; **तद्**—वह, उसको; **विचचक्षिरे**—व्याख्यान किया है ॥ १० ॥

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयँ सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥११॥

विद्याम्—विद्या को; **च**—और; **अविद्याम्**—अविद्या को; **च**—और;

जो 'असंभूति' (अ+सं+भूति), अर्थात् व्यक्तिवाद (Individualism) की उपासना करते हैं वे गहन अन्धकार में प्रवेश करते हैं, और जो 'संभूति' (सं+भूति) अर्थात् समष्टिवाद (Collectivism) में ही रत हैं वे उससे भी गहन अन्धकार में प्रवेश करते हैं ॥१२॥

'संभव' (सं+भव) अर्थात् 'समष्टिवाद' का कुछ और फल है, 'असंभव' (अ+सं+भव) अर्थात् समष्टिरूप में न रहकर व्यक्ति को समाज में मुख्य मानकर 'व्यक्तिवाद' से चलने का कुछ और फल है। धीर लोगों ने इन दोनों की जो व्याख्या की है उससे ऐसा ही सुनते आये हैं ॥१३॥

जो 'संभूति', अर्थात् 'समष्टि-वाद' तथा 'असंभूति', अर्थात्

यः—जो; **तद्**—उस, उसको; **वेद**—जानता है; **उभयम्**—दोनों को (विद्या और अविद्या को); **सह**—साथ; **अविद्यया**—अविद्या से; **मृत्युम्**—मृत्यु को; **तीर्त्वा**—तर कर, पार करके; **विद्यया**—विद्या से; **अमृतम्**—अमर पद मोक्ष को; **अश्नुते**—भोगता है, व्याप्त होता है, प्राप्त होता है ॥ ११ ॥

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ संभूत्यां रताः ॥१२॥

अन्धं तमः—घने अन्धकार को; **प्रविशन्ति**—प्राप्त होते हैं; **ये**—जो; **असम्भूतिम्** (अ+सम्+भूतिम्=इकट्ठा न होना)—व्यक्तिवाद को, असंगठन को; **उपासते**—उपासना करते हैं, सेवन करते हैं, महत्त्व देते हैं; **ततः**—उससे; **भूयः**—अधिक; **इव**—मानो, तरह; **ते**—वे; **तमः**—अन्धकार को; **ये**—जो; **उ**—निश्चय से; **संभूत्याम्**—सम्भूति (सम्+भूति=समुदाय में बंधना, समष्टि-वाद) में; **रताः**—लगे हुए, आसक्त, महत्त्व देनेवाले हैं ॥१२॥

अन्यदेवाहुः संभवादन्यदाहुरसंभवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १३ ।

अन्यद्—दूसरा; **एव**—ही; **आहुः**—कहते हैं, बताते हैं; **सम्भवात्**—सम्भूति से, समष्टिवाद से; **अन्यद्**—दूसरा; **आहुः**—कहते हैं; **असम्भवात्**—असंगठन से, व्यक्तिवाद से; **इति**—यह, ऐसा; **शुश्रुम**—सुनते आये हैं; **धीराणाम्**—बुद्धिमान्, ज्ञानी मनुष्यों की (से); **ये**—जो, जिन्होंने; **नः**—हमें; **तद्**—वह, उसको; **विचचक्षिरे**—व्याख्यान किया है ॥ १३ ॥

संभूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूत्याऽमृतमश्नुते ॥१४॥

सम्भूतिम्—समष्टिवाद को; **च**—और; **विनाशम्**—असम्भूति=विगठन

'व्यक्तिवाद' इन दोनों को एक साथ जानते हैं, वे असंभूति (अपना भला देखने की दृष्टि) अर्थात् व्यक्तिवाद से मृत्यु के प्रवाह को तो तैर लेते हैं, परन्तु अमृत को संभूति (सबका भला देखने की दृष्टि) अर्थात् समष्टिवाद से चखते हैं। असंभूति अथवा व्यक्तिवाद (Individualism) विनाश-मूलक है इसलिये असंभूति का दूसरा नाम 'विनाश' है ।।१४।।

(व्यक्तिवाद से क्या होता है ? व्यक्ति अपने लिये खाने-पीने आदि के साधन जुटाकर अपनी रक्षामात्र कर सकता है, परन्तु अगर यह स्वार्थ-भावना बढ़ जाय, अपने को ही मुख्य रखा जाय, अन्यों की पर्वाह न की जाय, तो इसका परिणाम विनाश के अतिरिक्त कुछ नहीं होता। यह स्वार्थ-भावना समाज में व्यक्तिवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया उत्पन्न कर देती है और व्यक्तिवाद ही नष्ट हो जाता है---इसीलिये कहा कि व्यक्तिवाद से मृत्यु को तो तर लेते हैं, मरने से बच जाते हैं, परन्तु इससे अधिक इससे कुछ नहीं मिलता, इसमें ही फंसे रहने से व्यक्तिवाद का ही विनाश हो जाता है।)

हिरण्मय चमक-दमकवाले ढकने से सत्य का मुख ढका हुआ है। हे पूषन् !---अपनी पुष्टि अर्थात् पोषण चाहने वाले उपासक !---अगर तू सत्य-धर्म को देखना चाहता है तो उस ढक्कन का, आवरण का अपवरण कर दे, उस ढक्कन को हटा दे, पर्दे को उठा दे ।।१५।।

को, व्यक्तिवाद को; **च**—और; **यः**—जो; **तद्**—उसको; **वेद**—जानता है; **उभयम्**—दोनों को; **सह**—एक साथ; **विनाशेन**—विगठन से, व्यक्तिवाद से; **मृत्युम्**—मृत्यु को; **तीर्त्वा**—तर कर, पार कर; **संभूत्या**—संगठन से, समष्टिवाद से; **अमृतम्**—अमर पद मोक्ष को; **अश्नुते**—भोगता है, प्राप्त करता है ।। १४ ।।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ।।१५।।

हिरण्मयेन—सुवर्ण (अच्छा रंग) से बने हुए, चमक-दमक वाले, आकर्षक; **पात्रेण**—बर्तन से, ढकने से; **सत्यस्य**—सत्य का; **अपिहितम्**—बन्द, ढका हुआ; **मुखम्**—मुख; **तत्**—उसको; **त्वम्**—तू (उपासक); **पूषन्** !—पोषण करनेवाले, पोषण चाहने वाले !; **अपावृणु**—दूर हटा दे; **सत्यधर्माय**—सत्य-धर्म के लिए; **दृष्टये**—देखने के लिए, जानने के लिए ।। १५ ।।

(ऐसा ही भाव छान्दोग्य, ८-३-१ में--'त इमे सत्या: कामा: अनृतापिधाना:' इस स्थल में पाया जाता है ।)

हे 'पूषन्'--पुष्टि देनेवाले! 'एकर्षे'--ऋषियों में एक--अनोखे! 'यम'—नियमन करनेवाले ! 'सूर्य'--प्रचण्ड प्रकाशमान ! 'प्राजा-

हे पूषन् ! सत्य के मुख पर पड़े पर्दे को हटा दे !

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्समूह।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥१६॥

पूषन्—हे पुष्टि देनेवाले ! ; **एकर्षे**—हे अद्वितीय ऋषि (साक्षाद्-द्रष्टा) ; **यम**—हे चराचर को नियम में रखनेवाले; **सूर्य**—हे सबको प्रेरणा देनेवाले,

पत्य'--प्रजाओं के पति ! आपकी रश्मियों का व्यूह चारों तरफ फैल रहा है। उन्हीं रश्मियों के कारण प्रकृति के नाना रूप प्रकाशमान हो रहे हैं। मैं यह प्रकाश आपका न समझकर प्रकृति का समझ रहा हूं, और इसीलिए प्रकृति को ही सब-कुछ समझ बैठा हूं। आप अपनी रश्मियों को समेटिये ताकि मैं आपके कल्याणतम तेजोमय रूप के दर्शन कर सकूं। अ-हा ! आपकी रश्मियों के, तेज के, प्रकाश के एक जगह सिमिट जाने से जो आपका कल्याणतम तेजस्वी पुरुष-रूप प्रकट हुआ, वह कितना ज्योतिर्मय है ! मैं भी वही हूं--मैं भी ज्योतिर्मय पुरुष हूं ॥१६॥

(जैसे ब्रह्मांड में ब्रह्म-पुरुष के प्रकाश से प्रकृति प्रकाशमान हो रही है, मैं ब्रह्म को भूलकर प्रकृति को सब-कुछ समझ बैठा हूं, वैसे पिंड में आत्म-पुरुष के प्रकाश से शरीर प्रकाशमान हो रहा है, मैं आत्म-तत्त्व को भूलकर शरीर को सब-कुछ समझ बैठा हूं। ब्रह्मांड में जो-कुछ है वही पिंड में है, जो पिंड में है वही ब्रह्मांड में है--इस प्रकार वर्णन करना उपनिषदों की शैली है। इसी शैली के अनुसार यहां ब्रह्मांड तथा पिंड दोनों में 'पुरुष'-शब्द का प्रयोग करके वर्णन किया गया है।)

प्राण-वायु शरीर में रहता है, वह मृत्यु के समय विश्व के अनिल, अर्थात्, विश्व के प्राण में लीन हो जाता है। यह शरीर नहीं, वह प्राण ही अमर है। शरीर तो जबतक भस्म नहीं हो जाता तभी तक है। हे कर्म करने वाले जीव ! 'ऋतु' (Future action) को--'प्रयत्न'

प्राजापत्य—हे प्रजाओं के पालक अधिष्ठाता; **व्यूह**—फैला दे, छितरा दे; **रश्मीन्**—किरणों को, ज्ञान-ज्योति को; **समूह**—समेट ले, इकट्ठा कर ले; **तेजः**—तेज; **यत्**—जो; **ते**—तेरा; **रूपम्**—स्वरूप; **कल्याणतमम्**—अत्यन्त कल्याणकारी; **तत्**—उसको; **ते**—तेरा; **पश्यामि**—देखता हूँ, जानता हूँ; **यः**—जो; **असौ**—यह; **असौ**—यह; **पुरुषः**—परमात्मा; **सः**—वह; **अहम्**—मैं; **अस्मि**—हूँ ॥ १६ ॥

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्।
ॐ क्रतो स्मर कृतं स्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर ॥ १७ ॥

वायुः—प्राण, गति करनेवाला जीवात्मा; **अनिलम्**—वायु, अप्राकृत (प्रकृति का बना नहीं है); **अमृतम्**—अमर है; **अथ**—और; **इदम्**—यह;

को, जो तूने आगे कर्म करना है उसे स्मरण कर, और 'कृत' (Past action)—जो तू अबतक कर्म कर चुका है, उसे स्मरण कर ॥१७॥

हे अग्ने ! हे देव ! तुम सब प्रकार के कर्मों को जानते हो। तुम हमें उन्नति के लिये ऐसे मार्ग से ले चलो जो सुपथ हो। जो कुटिल पाप-मार्ग है उसे हमसे अन्तरात्मा का युद्ध कराकर पृथक् करो। हम बार-बार तुझे नमस्कार करते हैं (बृहदा० ५-१५) ॥१८॥

(इस उपनिषद् में द्वन्द्वों का समन्वय किया गया है। प्रकृति-पुरुष, भोग-त्याग, कर्म-निष्कर्म, व्यक्ति-समाज, अविद्या-विद्या, भौतिक-अध्यात्म, कर्म-ज्ञान, मृत्यु-जन्म, विनाश-उत्पत्ति, सगुण-निर्गुण ब्रह्म—इनका समन्वय ही यथार्थ-दृष्टि है। मानव-समाज की प्रवृत्ति एकांगी दिखाई देती है। कुछ लोग भोग के पीछे कुछ त्याग के पीछे, कुछ लोग इहलोक कुछ लोग परलोक, कुछ लोग अविद्या कुछ विद्या, कुछ व्यक्तिवाद कुछ समष्टिवाद के पीछे भागते हैं। उपनिषत्कार की दृष्टि समन्वयात्मक है। इसके साथ-साथ इस उपनिषद् में तीन और बातें बड़े महत्त्व की कही गई हैं। पहली महत्त्व की बात यह कही गई है कि इस संसार में हमें कर्म करते हुए जीना है परन्तु कर्म-फल से बंध नहीं जाना। कर्म तो करना ही है, कर्म के बग़ैर रह नहीं सकते, परन्तु

भस्मान्तम्—(मरने के बाद) अन्त में राख हो जाने वाला; **शरीरम्**—शरीर। **ओ३म्**—ईश्वर को; **क्रतो**—आगामी जीवन में कर्म करने वाले हे जीव; **स्मर**—याद कर; **कृतम्**—किये कर्म को; **स्मर**—याद कर; **क्रतो स्मर कृतम् स्मर**—हे कर्म करने वाले जीव भगवान् को याद कर और अपने कर्म को याद कर॥ १७॥

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम॥१८॥

अग्ने—हे ज्ञानस्वरूप भगवन्; **नय**—ले चल; **सुपथा**—शुभ मार्ग से; **राये**—ऐश्वर्य (अभ्युदय-उन्नति) के लिए; **अस्मान्**—हमको; **विश्वानि**—सारे; **देव**—हे भगवन्; **वयुनानि**—कर्मों को, धनों को; **विद्वान्**—जानने वाले हो; **युयोधि**—पृथक् करो, दूर करो; **अस्मत्**—हम से; **जुहुराणम्**—कुटिलता से भरा; **एनः**—पाप; **भूयिष्ठाम्**—बहुत अधिक, बार-बार; **ते**—तेरी; **नमः उक्तिम्**—नमस्कार वचन को; **विधेम**—करते हैं॥ १८॥]

जीवन का एक ऐसा गुर है जिसको जीवन में उतार लेने से कर्म भी होता रहे और कर्म का लेप भी न हो। वह गुर है संसार के कण-कण में भगवान् के दर्शन करना। दीखने को तो यह भौतिक-जगत् दीखता है, परन्तु इसके कण-कण की ओट में वही छिपा बैठा है, वही इस सबका मालिक है। जब वही मालिक है तब तू कौन और मैं कौन? मैं उसके घर में बैठकर उसके पदार्थों का मालिक कैसे? यह सब उसी का है, मेरा नहीं—यह दृष्टि है जिससे जीवन का सारा मार्ग ही बदल जाता है। भारतीय संस्कृति का मूल आधार यही दृष्टि-कोण है, और इसी दृष्टिकोण को नींव में रखकर गीता का निर्माण हुआ है। दूसरी बात जो इस उपनिषद् में कही गई है यह है कि जिस 'भौतिक-विज्ञान' को आजकल के युग में 'विद्या' कहा जाता है, उसे इस उपनिषद् ने 'अविद्या' कहा है। उपनिषद् का कथन है कि 'भौतिक-विज्ञान', अर्थात् 'अविद्या' से केवल 'मृत्यु' को तर सकते हैं, 'अमृत' नहीं प्राप्त कर सकते। विज्ञान द्वारा मृत्यु से बचने के उपाय ही तो निकाले जा सकते हैं, स्वास्थ्य के नियमों अथवा औषधियों का पता लगाया जा सकता है, भूख (अशनाया—भोग) और प्यास (पिपासा—चाह) रूप मृत्यु को (बृहदा० १-२-१) हटाया जा सकता है, अमरता नहीं प्राप्त की जा सकती। 'अमरता' तो 'अध्यात्म-ज्ञान' से ही प्राप्त होती है, और वही वास्तव में 'विद्या' है। याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को उपदेश देते हुए तभी कहा है: 'अमृतस्य तु नाशाऽस्ति वित्तेन'—भौतिक-जगत् से वित्त मिल सकता है, अमृत नहीं मिल सकता। तीसरी महत्त्व की बात यहां यह कही गई है कि 'व्यक्तिवाद' से मनुष्य केवल मृत्यु से बच जाता है, खाना-पीना-पहनना-ओढ़ना मात्र कर लेता है, इससे आगे नहीं बढ़ सकता। अमरता प्राप्त करने के लिए इससे आगे बढ़ना होगा, समष्टि में अपने को मिटाना होगा। समाज को अपने लिये नहीं, परन्तु अपने को समाज के लिये साधन बनाना होगा।)